इस प्रकार समग्र रूप में पर्यावरण पर यदि चिंतन किया जाये तो समूचा जैन धर्म हमारे सभी प्रकार के पर्यावरणों को अहिंसात्मक ढंग से संतुलित करने का विधान प्रस्तुत करना है और वैयक्तिक तथा सामाजिक शांति के निर्माण में स्थायित्व की दृष्टि से नये आयामों पर विचार करने को विवश करता है।

न्यू एक्सटेंशन एरिया सदर
नागपुर ४४०-००१

जैन आचार : पुनर्मूल्यांड्कन की आवश्यकता

• *श्री राजीव प्रचंडिया*

आचार पक्ष एक ऐसा आधार स्तम्भ है जिस पर जीवन रूपी वृक्ष पुष्पित-पल्लवित है। यह जीवन की यथार्थता को प्रकट करने का एक सशक्त एवं सपाट साधन है। इसी को ध्यान में रखते हुए 'आचार-पक्ष' पर विश्व के समस्त दर्शनों, धर्मों में अपने-अपने स्तर पर विवेचन हुआ है। जैन दर्शन, धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा है। इस व्यावहारिक एवं परम उपयोगी विषय पर चिन्तन करने से पहिले हमें यह सोचना होगा कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हमारे सामने तीन स्थितियाँ हैं एक आध्यात्मिक दूसरी सांसारिक और तीसरी मिश्रित रूप। सामान्यतः आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं उसमें तीसरे स्थिति ही समग्र जीवन का आयाम स्थिर करती है। यह तो हो सकता है इसमें व्यञ्जित बहुतायत कभी आध्यात्मिकता की तो कभी सांसारिकता की झलकने लगे। कारण स्पष्ट है वर्तमान परिस्थितियों में नितान्त पहली। दूसरी स्थिति परक लक्ष्य का साकार होना असम्भव सा लगता है। इसलिए देशकाल-समाज के आधार पर जो सटीक हो, न्यायसंगत हो, उपयोगी एवं उपादेयी हो, उसका समय-समय पर मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन होता रहा है, होना चाहिये। मूल्यांड्कन करते समय समाज व्यक्ति का लक्ष्य सुस्पष्ट होना चाहिए। देश काल के आधार पर परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहती हैं, तद्नुरूप जीवन भी संचालित होता रहता है। उदाहरण के लिए पूर्व में जो सहनशक्ति, सहिष्णुता विद्यमान थी वह आज उतनी मात्रा सीमा में अदर्शित है और जो आज जिस रूप में है वह कल आने वाल समय में दृष्टिगोचर नहीं होगी। अतः जो समीचीन है उस पर आज के सन्दर्भ में हमें विचारना होगा। उसमें व्यञ्जित भावों की सूक्ष्मता को पकड़ना होगा और तारतम्य बैठाना होगा उसकी सार्थकता को, समीचीनता को। आज जब हम अपनी नजर चारों ओर दौड़ाते हैं तो पाते हैं कि व्यक्ति या समाज चाहे वह आध्यात्मिक-सामाजिक आदि किसी भी वर्ग विशेष से सम्बन्धित क्यों न हो अपने निर्धारित कर्तव्यों से विमुख होने के उद्यत है। क्यों? ऐसा क्यों? जो नियम, संविधान, संहिताएँ उस काल की स्थिति के देखते हुए बनाए गए थे या निर्धारित किए गए थे या तो उन पर कट्टरता से चल जाय या फिर उनमें युगानुरूप संशोधन-संवर्धन कर नई संहिताएँ आदि स्थापित कर उस पर चला जाए। यही दो रूप हमारे सामने आते हैं। पुरानी आचार-पद्धति में प्रछन्न जो वैज्ञानिकता है उसे हम सामने लाएँ तभी उसकी समीचीनता सिद्ध होगी। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भी यही है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि क्रियाएँ जो अज्ञान धरातल पर केन्द्रित हैं, उन्हें समूल नष्ट कर जो उपादेयी हैं उन्हें अंगीकार कर जीवन चर्या को समृद्ध किया जाए क्योंकि कोरी क्रियाएं, निरर्थक साधनाएँ व्यक्ति, साधक को उबाऊपन उत्पन्न करने के अतिरिक्त और क्या दे सकेंगी। 'जैन-आचार' में जो बातें समाविष्ट हैं वे निश्चय ही आत्महित एवं लोकहितकारी हैं, साथ ही परम वैज्ञानिक उपयोगी एवं उपादेयी भी हैं।

आचार (क्रिया) और विचार (ज्ञान) ये दो संवाहक जीवन-रथ को संचालित करते हैं। जैन-आचार का मूल है अहिंसा और विचार है -अनेकान्त। अहिंसा एक व्यापक शब्द है। वह जैन धर्म का प्राण है। अहिंसात्मक जीवन को केन्द्रित करने के लिए जैन धर्म में तप व्रत और संयमादि के स्वरूप और महत्ता का सम्यक् रूप से उद्घाटन हुआ है। हम वर्तमान सन्दर्भ में इनकी क्या उपयोगिता है, आदि को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

तप भारतीय साधना का प्राण तत्व है क्योंकि उससे व्यक्ति का बाहर-भीतर समग्र जीवन परिष्कृत, परिशोधित होता हुआ उस चरम बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ से व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाता है अपितु परमात्म अवस्था अर्थात् परमपद, सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में तप में तृप्ति है, इसकी साधना से लब्धि-उपलब्धि, ऋद्धि-सिद्धि, तैजस् शक्तियाँ, अगणित विभूतियाँ सहज ही प्रकट होने लगती हैं अर्थात् तप से सर्वोत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी प्राप्ति तप से न हो सके। तपः साधना से समस्त बाधाएँ, अरिष्ट उपद्रव, शमन तथा क्षमा शान्ति, करुणा प्रेमादि दुर्लभ गुणजीवन में व्याप्त होते हैं अतः यह लौकिक और अलौकिक दोनों ही हित का साधक है। तपः साधना व्यक्ति को स्थूल से सूक्ष्म की ओर वहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाने में प्रेरणा-स्फूर्ति का संचार करती है क्योंकि बाहर कोलाहल-हलचल है, दूषण-प्रदूषण है, जबकि भीतर निःस्तब्धता, निश्चलता और शुद्धता है।

जैनदर्शन-धर्म में तप के समस्त अंगों पर वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। आत्म-विकास हेतु साधना का निरूपण जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य हेतु जो साधना की जाती है वह साधना वस्तुतः तप कहलाती है। इस दर्शन में सांसारिक सुखों, फलेच्छाओं, एषणाओं, सांसारिक प्रवंचनाओं हेतु किए जाने वाले तप की अपेक्षा सम्यग्दर्शन (आस्तवादितत्वों को सही-सही रूप में जानना और उन पर श्रद्धान रखना) ज्ञान (पर-स्व भेद बुद्धि को समझना) चारित्र (भेद विज्ञान पूर्वक स्व में लय करना) रूपी रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिए, इष्टानिष्ट , इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा का विरोध करने की अपेक्षा निरोध करने के लिए किए जाने वाले तप ही सार्थक तथा कल्याणकारी माने गए हैं। साधना की दृष्टि से यहां तप दो प्रकार के माने गए हैं एक बाह्य तप जिसके अन्तर्गत अनशन, उनोदरी-अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान-भिक्षाचारी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता-विविक्त शय्यासन हैं तथा दूसरा आभ्यन्तर तप है जिसमें प्रायश्चित विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग है। बाह्य तप बाह्य द्रव्य के अवलम्ब से होता है, इसे दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है। इसमें इन्द्रिय-निग्रह होता है किन्तु आभ्यन्तर तप में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा अंतरंग परिणामों की प्रमुखता रहती है, दूसरों की दर्शनीयता रहती है। साधना में जाने वाला साधक सर्वप्रथम बाह्यतपान्तर्गत 'अनशन' में प्रवेश करता है तदनन्तर शनैः-शनैः अभ्यास करता हुआ तथा अनवरत साधना में प्रवेश करता है तदनन्तर शनैः-शनैः अभ्यास करता हुआ तथा अनवरत साधना क्रम-बिन्दुओं से गुजरता हुआ आभ्यान्तर तपान्तर्गत ध्यान-व्युत्सर्ग में प्रवेश कर साधना की परिपूर्णता को प्राप्त करता हुआ आत्मा की चरमोत्कर्ष स्थिति में पहुँच जाता है। साधना की इस प्रक्रिया में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि साधक बाह्यतप में दर्शित बिन्दुओं-भेदों में कदाचित परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाता तो निश्चय ही वह आभ्यन्तर तप साधना के क्षेत्र में सही रूप में प्रवेश नहीं कर सकता अर्थात् बाह्यतप के बिना अन्तरंग तप और अन्तरंग तप के बिना बाह्यतप निरर्थक प्रमाणित होते हैं, इनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, शाश्वत है।

बाह्यतप द्वारा साधक असद्वृत्तियों से हटकर सद्वृत्तियों में अपने मन-वचन-शरीर को तन्मय करता हुआ सुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत कर सकता है। काम-वासना, अहंभावना, क्रोध ज्वाला, कपट, छल, प्रवंचना, तथा दूसरों के धन सम्पत्ति हड़पने की प्रक्रिया की वह्नि जो आज प्रज्वलित है जिससे परिवार-समाज-राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अस्थिरता, असामाजिकता तथा अराजकता-आतंकवादिता का शोर-शराबा परिलक्षित है शान्त-शमन हो सकती है। जब साधक बाह्य तपानुरूप अपनी जीवनचर्या स्थिर कर लेता है तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि जीवन जीने का लक्ष्य मात्र उदरपूर्त के साधन-उपकरण जुटाने-एकत्र करने अर्थात् इन्द्रिय जन्य व्यापारों में खपाने की अपेक्षा आत्मशोधन विकास में ही होना श्रेयस्कर एवं सार्थक है। तप-साधना के प्रथम चार चरण (अनशन, उनोदर, भिक्षाचरी, रस परित्याग) आहार-त्याग से सम्बन्धित है क्योंकि बिना आहार-शुद्धि के शरीर शुद्धि और तज्जन्य चित शुद्धि का होना नितान्त असम्भव है। शेष दो चरणों (कायक्लेश, प्रति-संलीनता) में शरीर की शुचिता पर बल दिया गया है जिससे मन विकृति से हटकर निवृत्ति की ओर उन्मुख होता हुआ साधना-पथ पर नैरन्तर्य आगे बढ़ने को प्रवृत्त हो सके।

जैनाचारान्तर्गत तप साधना शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा उसे विकार-विवर्जित बनाती है। इसमें अन्तः करण को शुद्ध किया जाता है। साधक कभी अनशन करके तो कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण कर तो कभी किसी रस को तज कर शरीर को नियन्त्रित करता हुआ चेतन-अवचेतन मन में प्रविष्ट वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है। इन सबके लिए ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन-चिंतवन आदि में वह लीन रहता है। संसारी बाह्य प्रभावों से अपने को अलग करता हुआ साधक अन्ततोगत्वा आत्मस्वरभाव अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति में जीवन को अध्यात्म-साधना में खपा देता है। इसलिए तप जीवन का एक अनिवार्य अंग है। अस्थिरता, अशान्ति, बैचेनी, एक अजीब प्रकार की उकताहट-निराशादि के वातावरण में यह जीवन को एक नया आयाम देता है, स्फूर्ति और शक्ति का संचार करता है।

जैनाचार में व्रतों पर बल दिया गया है। वर्तमान सन्दर्भ में जहाँ चाँद-सितारे पर पहुँचने की, ताल-पाताल भी अतल गहराइयों को छूने की होड़ चल रही हो, आधुनिक-अत्याधुनिक उपकरणों के निर्माण में जीवन खपाया जा रहा हो, वहाँ व्रतों की भूमिका क्या होगी? यह एक विचारणीय तथ्य है।

व्यक्ति चाहे कितनी ही उपलब्धि अर्जित कर ले, विज्ञान कितना ही विकसित हो जाए यदि उसमें मर्यादा, अनुशासन का अभाव है, उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता का प्रभाव है तो विकास की अपेक्षा विनाश, निर्माण की अपेक्षा संहारनर्तन करता दिखाई देगा। व्रत, व्यक्ति, परिवार समाज और राष्ट्र के लिए सुव्यवस्थित, सुरक्षित सुख-शान्ति तथा सौहार्द पूर्ण जीवन जीने का मार्ग प्रस्तुत करता है।

जैनधर्म के अनुसार व्रत में परकीय की अपेक्षा स्वेच्छा की प्रधानता रहती है। इसलिए व्रत धारण करने वाले को अपनी योग्यता, पात्रता तथा क्षमता को ध्यान में रखकर ही व्रत धारण करना चाहिए। व्रती का व्रत के प्रति अगाद्य निष्ठा तथा लक्ष्य सुस्पष्ट होना चाहिए। व्यक्ति के व्रत धारण करने की शक्ति-समर्थता के आधार पर जैन आचार में व्रतों को दो भागों में एक आंशिक रूप में (अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत) तथा दूसरे पूर्णरूपों में (महाव्रत) विभक्त किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को चाहे वह गृहस्थ रूप में हो, चाहे वह साधना-पथ पर हो, सुव्यवस्थित-मर्यादित जीवन चर्या के लिए व्रतों की शरण में जाना होता है। व्रत से व्यक्ति में समत्व जगता है अर्थात् मानसिक और शारीरिक सन्तुलन अर्थात् तनावों से मुक्त जीवन जीने की पद्धति विकसित होती है। आज संसार के समक्ष 'तनाव' की सबसे बड़ी समस्या है। तनाव जीवन के प्रत्येक चरण में गहराता जा रहा है। इसकी समाप्ति के लिए अनेक अनुसंधान हो रहे हैं। व्रतों की इस दिशा में एक अहम् भूमिका रही है। प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन तक हमारे आध्यात्मिक गुरु तनावों से मुक्ति के लिए व्रतों पर सदा बल देते आए हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यदि हम व्रतों का वैज्ञानिक ठंग से अपने जीवन में उपयोग करते हैं तो वे हमारे लिए सर्व प्रकार की स्वस्थता तो प्रदान करते ही हैं साथ ही प्रसुप्त ओज का जागरण भी होता है। ओज प्रदीप्त से जीवन प्रमाद से रिक्त किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ से सिक्त होता है। वास्तव में जन-जन के अभ्युत्थान में व्रतों की भूमिका उपयोगी सिद्ध हुई है।

जैन आचार प्रत्येक व्यक्ति को सप्त व्यसन (जुआ, मांसाहार, मद्यपान, चोरी, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन तथा शिकार) का त्याग तथा अष्ट प्रवचनं तीन गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) पूर्ण जीवन जीने के लिए निर्देश देता है। इनका परिपालन एक प्रकार से व्रतों की परिधि में परिगणित किया जा सकता है। जैन आचार के ये पवित्र विधान आज भी प्रासंगिक है। सप्तव्यसनी में विवेक, धीरता, सहनशीलता, लगन, आत्म विश्वास तथा स्मरण शक्ति आदि मानवीय गुणों का नितान्त अभाव दिखाई देता है। बिना इन गुणों के क्या वह अपना और अपने राष्ट्र का विकास कर सकता है? कदापि नहीं। व्यसन तो एक ऐसा आवेश है जिसके जोश में व्यक्ति अपना होश तो खो बैठता ही है साथ ही वह समाज और राष्ट्र का एक अंग होने के कारण उसे भी गर्त में ले जाता है। वास्तव में व्यसन मानवता का एक अभिशाप है। अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक जीवन मूल्यों को क्षतविक्षत करने वाला यह पिशाच अपनी पाशुविकता के अतिरिक्त समाज को और क्या दे सकेगा। आनन्द रश्मियाँ तो व्यसन मुक्ति जीवन से ही विकीर्ण होती हैं।

दूसरा पवित्र विधान है अष्ट प्रवचन माता। समिति-गुप्ति पूर्ण जीवन से जीवन में प्रामाणिकता आती है। व्यक्ति अपनी हर क्रिया के प्रति सजग और सचेष्ट रहता है। वह किसी को भी दुःख, पीड़ा पहुँचाए बिना अपना जीवन यापन करता है। उसका जीवन आर्त्तया, रौद्रता की अपेक्षा, हितकारी वातों में ही बीतता है। उसका मनन-चिन्तन रागद्वेष से रहित, माध्यस्थ भावों से संम्पक्त रहता है। वास्तव में ऐसा जीवन स्वयं अपने लिए तो उपयोगी है ही साथ ही राष्ट्र के लिए वरेण्य भी है।

विचार करें, जैन आचार के इन पवित्र विधानों में मूल हैं -अहिंसा। ये सब अहिंसा के ही आयाम हैं। अहिंसा का विस्तार है तप, संयम और व्रत।

अहिंसा मानव जीवन का स्वभाव है। स्वभाव प्रच्छन्न तो हो सकता है किन्तु समाप्त नहीं होता। भय, संदेह, अविश्वास, असुरक्षा, पारस्परिक वैमनस्य, शोषण, अत्याचार तथा अन्याय आदि की वह्नि जो आज प्रज्वलित है, उसका मूल कारण है जीवन में अहिंसा का अभाव। अहिंसा में क्षमा, मैत्री, प्रेम, सद्भावना, सौहार्द्रता, एकता, वीरता तथा मृदुता आदि मानवीय गुण विद्यमान रहते हैं। इसके द्वारा ही विश्व के समस्त प्राणियों में क्षमा करने की भावना तथा शक्ति जाग्रत होती है। अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि अहिंसा निर्बलों (कायरों) का अस्त्र है। यह उन लोगों का कोरा भ्रम है। अहिंसा तो वीरों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभूषण है। सच्चा अहिंसक सिंह की भाँति निर्भीक निडर तथा शक्तिशाली होता है। आज आवश्यकता है अहिंसा के व्यापक स्वरूप को ठीक-ठीक समझने की। अहिंसा को केवल निवृत्ति अर्थात् निषेधात्मक रूप में ही नहीं अपितु प्रवृत्ति अर्थात् विधेयात्मक रूप में भी उसे देखा जाय। निवृत्ति रूप में किसी को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है किन्तु प्रवृत्ति रूप में कमजोर, अहसाय, दीनदुःखी, हताश और सताए हुए व्यक्ति की रक्षा करना अहिंसा का एक अंग है। अस्तु किसी को बचाना कायरों का नहीं, शूरवीरों का परम कर्तव्य है। वास्तव में अहिंसक आत्मजयी होता है। आज जब सारे विश्व में अशान्ति हाहाकार मचा हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने की प्रक्रिया में व्यस्त है अस्तु त्रस्त-संत्रस्त हैं। सारी शक्ति अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में लगी हुई है। वहाँ अहिंसा का उद्घोष निश्चित ही वरदान सिद्ध होगा। इतिहास के पन्ने बोलते हैं कि जहाँ हिंसा से कुछ नहीं हुआ, वहाँ अहिंसा ने ही आकर सामञ्जस्य स्थापित किया। वास्तव में अहिंसा जीवन का एक अनिवार्य अंग है। वह प्राणिमात्र के हित की संवाहिका है।

आज हमारी दृष्टि जब जैनसमाज पर जाती है तो यह देखकर दंग रहजाना होता है कि जिसका आचार और विचार पक्ष इतना समुज्ज्वल व समन्वय वादिता से अनुप्राणित है वहाँ भी भेद-प्रभेद। इसका मूलकारण है 'आचार'।'आचार' की इतनी अधिक व्याख्याएँ हुई हैं कि उनसे अनेक विभाजन उठ खड़े हो गए। जबकि आज आवश्यकता है आचार के भीतर प्रतिष्ठित जो मूल आत्मा है उसको समझने की, हृदयगंम करने की, आत्मसात करने की अर्थात् लक्ष्य की। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी, तेरापंथी आदि अन्ततोगत्वा सबका लक्ष्य तो एक ही है -अनन्त आनन्द की प्राप्ति। कर्म से विमुक्ति मार्ग विभिन्न हो सकते हैं किन्तु मार्ग्य तो एक ही है, तो जो समीचीन लगे, आत्म औल लोकहित में जो उपयुक्त हो उसका अनुसरण कर जीवन यात्रा को तय करना ही सार्थक है।

इस प्रकार जैनाचार पर जब हम गहराई के साथ चिन्तन करते हैं तो तीन बिन्दु पाते हैं- एक दर्शन, दूसरा ज्ञान और तीसरा चारित्र। ये तीनों जब सम्यक्त्व पूर्ण होकर एक रूप हो जाते हैं तब मोक्ष का मार्ग खुलता है। व्यक्ति का अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' है। 'मोक्ष' अर्थात् बंधनों से मुक्ति अर्थात् शाश्वत स्वतन्त्रता। जैन आचार जहाँ एक ओर व्यक्ति में नैतिक संस्कारों को, समत्व को, विश्वास-श्रद्धा को अपने प्रति निष्ठावान होने को, कर्तव्यदायित्व के बोध आदि को जगाता है वहीं दूसरी ओर अनन्त चतुष्टय के द्वार भी खोलता है। निश्चय ही 'जैनाचार' आज भी अपनी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता को समेटे हुए है।

* * * * *

'मंगलकलश' ३९४, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड़, अलीगढ़ (उ.प्र) -२०२००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org